उपसंहार

साहित्य पढ़ना जितना रोचक लगता है, उससे कहीं अच्छा सिनेमा देखना। जब फिल्म में अपने आसपास की कथावस्तु, परिवेश एवं पात्र हों तो वह और भी रोचक हो जाता है। अगर साहित्य और सिनेमा के बारे में कहा जाए तो ऐसे बहुत से मामले हैं जहां साहित्य सिनेमा से बहुत आगे है लेकिन कुछ ऐसे भी मामले हैं जिसमें सिनेमा तकनीकी उपकरणों की सहायता से पात्रों की अभिनय कला तथा गीत-संगीत से दर्शकों को कर देता है। साहित्य की स्वतंत्र कल्पना जहां एक ओर पाठकों के कल्पना जगत को विस्तारित करती है वहीं सिनेमा अपने पात्रों के तर्कपूर्ण संवादों, मनोरम दृश्यों और प्रभावी अभिनय के द्वारा दर्शकों के दिल और दिमाग में एक न भूलने वाली छाप छोड़ता है। अगर हम प्राचीन काल, मध्यकाल, आधुनिक काल के समाज को फिल्मी पर्दे पर चलते-फिरते दृश्यों के माध्यम से देखते हैं तो वह शरीर में एक विशेष प्रकार का रोमांच भर देता है। उससे भी अधिक दिलचस्प होता है साहित्य से सिनेमा माध्यम में आने वाली समस्या और उसकी प्रक्रिया को समझना। दो प्रतिष्ठित भिन्न विधाओं को एक करते हुए समझना किसी चुनौती से कम नहीं है। जब कोई निर्माता-निर्देशक साहित्यिक कृतियों पर फिल्म निर्माण करने की अपनी रुचि जाहिर करता है तो सबसे पहली समस्या होती है रचना के चयन की। रचना के चयन के बाद रचनाकार से अनुमति लेना अति आवश्यक है। रचनाकार से अनुमति लिए बगैर फिल्म निर्माण की कोई भी प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ाई जा सकती है। अगर रचनाकार से अनुमति मिल भी जाय तो फिल्म के निर्माण और रिलीज होने तक अनेक समस्याओं, दबावों और विभिन्न नियमों से होकर गुजरना पड़ता है निर्माता-निर्देशक को। कभी-कभी फिल्म का निर्माण होने के बाद भी लेखक असंतुष्ट हो जाता है तो भी फिल्म रिलीज होने में बाधा पड़ जाती है।

जब साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध की बात की जाती है तो विधागत अंतर होते हुए भी दोनों एक दूसरे के सदैव पूरक होते हैं। अगर यह कहा जाए तो कोई गलत नहीं होगा क्योंकि सिनेमा अपने आरंभ में साहित्य पर ही निर्भर था। आज सिनेमा ने इतना विकास कर लिया है कि वह साहित्य के विकास में अपनी भूमिका निभा सकता है। लेकिन अधिकांश साहित्यकार और निर्माता-निर्देशक साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध के विरोधी रहे हैं जिससे सिनेमा नितांत अलग विधा बनता चला गया। जब हम साहित्य और फिल्म की निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं तो दोनों विधाओं में व्यापक भेद दिखाई देता है। साहित्य जहां कम खर्चीला और सीमाहीन परिमाप वाली स्वांत: सुखाय वाली प्रक्रिया है वहीं सिनेमा निर्माण एक सामूहिक प्रक्रिया के साथ, खर्चीली एवं सीमित परिमाप वाली प्रक्रिया है। सिनेमा

अपने दर्शकों की अपेक्षा नहीं कर सकता है लेकिन साहित्यकार पाठक को ध्यान में रखकर साहित्य का निर्माण नहीं करता है क्योंकि साहित्यकार के लिए विचार महत्वपूर्ण होता है दर्शक नहीं। साहित्य से सिनेमा माध्यम में रूपान्तरण की प्रक्रिया के कुछ सैद्धान्तिक तथा कुछ व्यावहारिक पक्ष हैं। सैद्धान्तिक पक्ष में फिल्म की समयसीमा, फिल्म के कथानक का समय, ऐतिहासिक तथ्यों से मेल, पात्रों से मेल, पात्रों की संख्या, देशकाल, परिवेश तथा समाज के अनुरूप संस्कृति का निरूपण प्रमुख है। इसी प्रकार व्यावहारिक पक्ष के अंतर्गत उचित पात्र का चयन, यथार्थ परिवेश, इतिहासबोध तथा पात्रानुसार उचित भाषा का चयन प्रमुख है। साहित्यिक रचनाओं के फिल्म रूपान्तरण में अनेक समस्याएँ हैं। रचना की मूल संवेदना का संरक्षण इसमें प्रमुख है।

'कोहबर को शर्त' उपन्यास के कथानक में ग्रामीण जन-जीवन के विभिन्न पहलुओं के यथार्थ को चित्रित किया गया है तो वही फिल्म 'नदिया के पार' के कथानक में ग्रामीण जीवन के एक पक्ष को लेकर ही फिल्मांकन किया गया है। फिल्म पूरे ग्रामीण यथार्थ का फिल्मांकम नहीं कर सकी है लेकिन जितने भी अंश को लिया गया है उसका पूरे ग्रामीण परिवेश के साथ फिल्मांकन किया गया है। फिल्मकार गोविंद मुनीस ने उपन्यास की मूल संवेदना को समझकर न केवल संरक्षित किया है बल्कि उपन्यास की संवेदना को बढ़ाने का प्रयास भी किया है।

साहित्य आर फिल्म की भाषा में व्यापक अंतर होता है। साहित्य जहां अपनी बात शब्दों के द्वारा प्रकट करता है, वहीं फिल्म ध्वनि,प्रकाश,गीत-संगीत तथा वातावरण की ध्वनियों से संयुक्त सम्पूर्ण दृश्य को साकार रूप में प्रस्तुत करती है। 'कोहबर की शर्त' उपन्यास में काका का बीमार होना, ओंकार और रूपा की शादी, चन्दन और गुंजा का मर्यादित प्रेम, बीस बिगहवा खेत की समस्या, रूपा की मृत्यु, ओंकार और गुंजा का विवाह , चेचक जैसे महामारी का प्रकोप, ओंकार और गुंजा का क्रमश: मृत्यु आदि और भी छोटी-छोटी समस्याओं को मिलाकर उपन्यासकार ने ग्रामीण जीवन के संपूर्ण सुख-दु:ख को चित्रित किया है तो वहीं फिल्म सिर्फ चन्दन और गुंजा के त्यागमय प्रेम और अंत में उस त्याग सुखांत में परिवर्तित कर फिल्मांकन किया गया है। उपन्यास में ग्रामीण जीवन कई समस्याओं को चित्रित किया गया है जबकि फिल्म में मूल कहानी के अतिरिक्त अन्य उपकथाओं को छोड़ दिया गया है। उपन्यास में जहाँ अवधी-भोजपुरी के शब्दों के साथ उर्दू, तत्सम और अँग्रेजी के शब्दों का इस्तेमाल किया गया है वहीं फिल्म में अवधी-भोजपुरी के शब्द अपने पूरे टोन के साथ बोले जाते हैं जिसके कारण फिल्म के संवाद को आज भी दर्शक अपने मस्तिष्क में सँजोए हुए हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है फिल्म ने उपन्यास की मूल संवेदना को बचाते हुए एक स्वस्थ मानसिकता वाली ग्रामीण जन-जीवन के बीच रहने वाले एक किसान परिवार की कथा को पूरे परिवेश की कथा बनती है लेकिन ग्रामीण जन-जीवन का चित्रण करने में जो सफलता उपन्यासकार ने प्राप्त की है वह फ़िल्मकार नहीं कर सका है।